ISSN NO : 2230-7850 IMPACT FACTOR : 5.1651 (UIF) VOLUME : 9, ISSUE : 9, OCT- 2019

INDIAN STREAMS RESEARCH JOURNAL

अनिल त्रिपाठी की कृति 'अचानक कुछ नहीं होता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. विशाल श्रीवास्तव
असि. प्रो. : हिन्दी, राजकीय महाविद्यालय, पचवस–बस्ती.

शोध–सार :

यह शोध–पत्र अनिल त्रिपाठी की कृति 'अचानक कुछ नहीं होता' का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है, जिसमें समकालीन हिन्दी कविता के परिप्रेक्ष्य में जीवन, समाज और समय की जटिलताओं को समझने का प्रयास किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस काव्य–संग्रह में कवि ने जीवन की घटनाओं को आकस्मिक न मानकर उनके पीछे सक्रिय सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को रेखांकित किया है। कविताओं में अभिव्यक्त यथार्थ व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंधों, बदलते जीवन–मूल्यों, अस्तित्वगत संकट तथा मानवीय संवेदनाओं के क्षरण को उजागर करता है। कवि की भाषा सरल, संकेतधर्मी और विचारोत्तेजक है, जो पाठक को गहन आत्ममंथन के लिए प्रेरित करती है। यह अध्ययन निष्कर्षतः प्रतिपादित करता है कि 'अचानक कुछ नहीं होता' समकालीन हिन्दी कविता में कारण–कार्य संबंधों की चेतना को स्थापित करते हुए सामाजिक यथार्थ की सशक्त अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती है।

कुंजी शब्द : *समकालीन हिन्दी कविता, यथार्थबोध, कारण–कार्य संबंध, सामाजिक चेतना, संवेदना, अस्तित्वगत संकट, काव्यभाषा, समय–बोध, मानवीय अनुभव*

''वीरान मैदान, अंधेरी रात, खोया हुआ रास्ता, हाथ में एक पीली मद्धिम लालटेन। यह लालटेन समूचे पथ को पहले से उद्घाटित करने में असमर्थ है। केवल थोड़ी सी जगह पर ही उसका प्रकाश है। ज्यों–ज्यों वह पग बढ़ाता जायेगा, थोड़ा–थोड़ा उद्घाटन होता जायेगा। चलने वाला पहले से नहीं जानता कि क्या उद्घाटित होगा। उसे अपनी मद्धिम लालटेन का ही सहारा है। इस पथ पर चलने का अर्थ ही पथ का उद्घाटन होना है, और वह भी धीरे–धीरे, क्रमशः। वह यह भी नहीं बता सकता कि रास्ता किस ओर घूमेगा या उसे किन घटनाओं या वास्तविकताओं का सामना करना पड़ेगा। कवि के लिए, इस पथ पर आगे बढ़ते जाने का काम महत्वपूर्ण है। वह उसका साहस है। वह उसकी खोज है ..... इस रास्ते पर चलने के लिए आत्मसंघर्ष करना पड़ता है केवल एक लालटेन है, जिसके सहारे उसे चलना है।''

(नयी कविता का आत्मसंघर्ष में मुक्तिबोध)

पता नहीं क्यों मुझे लगा कि सामने मौजूद कविताओं पर अपनी बात कहने से पहले ऊपर लिखी पंक्तियों को याद करना चाहिए। वैसे तो, यह बात रचना–प्रक्रिया के सन्दर्भ में कही गयी है, लेकिन कविता के प्रति कोई समझ बनाने से पहले 'समझदार' को भी अपने हाथ में कोई लालटेन या चोरबत्ती ले ही लेनी चाहिए। बहुत चकाचौंध की भी जरूरत नहीं, वरना जो देखना है, उसके अतिरिक्त सबकुछ दिखेगा। ज़रूरत भर

की रौशनी में देखते हुए कवि चुपचाप जिस पथ पर चला गया है, उस पर उसके पीछे–पीछे चलना आसान काम नहीं है। जिस रास्ते पर चलते हुए कवि के पाँव लहूलुहान हुए, उस पर नरम पादुका पहनकर चलते रहने से भला कैसे उसकी कविता समझ में आयेगी, और क्यों समझ में आयेगी।

अपनी इन प्रसिद्ध पंक्तियों के पूर्व के अनुच्छेद में मुक्तिबोध कहते हैं कि कवि एक विचित्र प्रकार का अकेलापन महसूस करता है, क्योंकि जिस काम में वह व्यस्त है उसमें शायद ही कोई संलग्न हो। आज के दौर में इस अकेलेपन में एक चीज़ और जुड़ गयी है, और वह है उसपर लगातार लगने वाले आरोप और उससे की जाने वाली सतत अपेक्षाएँ। आज के समय में, हिन्दी के कवियों से (अच्छे और अनुशासित बच्चों की तरह) कुछ ख़ास किस्म की उम्मीदें लगातार बांधी जाती हैं। मसलन, उन्हें नयी बात कहनी चाहिए, नये तरीके से कहनी चाहिए, नयी भाषा में कहनी चाहिए और वैचारिक प्रतिबद्धता तो ज़रूरी ही है .... और इस तरह की तमाम बातें जिनका शुमार हिन्दी कविता पर होने वाली हर बातचीत में होता है। इसके बाद कविता के ख़ात्मे की बात भी कह दी जाती है, तो थोड़े से विलाप और बहुत सारे प्रलाप के साथ हिन्दी की समकालीन कविता का मर्सिया आये दिन पढ़ दिया जाता है।

फिर भी, इतनी उपेक्षा के घनीभूत वातावरण के बीच भी आश्वस्ति यह है कि लगातार अच्छी कविताएँ लिखी जा रही हैं (इसका मतलब यह कतई नहीं कि बुरी कविताएँ नहीं लिखी जा रहीं) और वे अपनी जगह भी तय कर रही हैं। कुछ ऐसी ही आश्वस्ति से भरा हिन्दी के युवा कवि और आलोचक अनिल त्रिपाठी का दूसरा कविता–संग्रह है 'अचानक कुछ नहीं होता'। उनकी यह काव्यपंक्ति शब्दकोश के एक चर्चित शब्द के अस्तित्व को दी गयी काव्यात्मक चुनौती है। कुछ भी अचानक नहीं होता, सब कुछ नियोजित और तय होता है। कभी होता रहा होगा कुछ भी अचानक, शायद यह शब्द भी तभी गढ़ा गया होगा। अब कहाँ कुछ अचानक होता है, मेहमान अचानक नहीं आते (बाकायदा फोन करके और पूर्वानुमति के साथ आते हैं), ऋतुएँ अचानक नहीं आतीं (कमबख़्त बहुत इन्तज़ार कराती हैं), हमें अचानक कुछ नहीं पता चलता (अन्देशे का धड़का पहले से बना रहता है); जिस तरह का तयशुदा और प्रबन्धित जीवन हम जी रहे हैं उसके रोजनामचे से लेकर त्रासदियाँ तक पहले से तय रहती हैं। 'अचानक' शीर्षक से लिखी अपनी कविता में वे कहते हैं :–

सब पहले से तयशुदा है
सबके अपने अपने हिस्से हैं
.....
अब अचानक और औचक
कुछ भी नहीं होता
सब अपनी–अपनी गोटी बिछाते हैं
और तुम्हें पता भी नहीं
शिकारगाह में शिकारी ताक में हैं।

अनिल त्रिपाठी हिन्दी के बहुत से दूसरे कवियों की तरह गाँव छोड़कर शहर में बसे कवि हैं। उनकी कविताओं में गाँव के जीवन की स्मृतियाँ तो हैं ही, उसके साथ ही मध्यमवर्ग के नागरिक जीवन की विडम्बनाएँ भी पूरी तरह मौजूद हैं। विशेष बात यह है कि उनका निरूपण वे बेहद मामूली प्रतीकों के साथ करते हुए भी उन्हें बड़े और सार्वभौम सन्दर्भों के साथ सम्बद्ध करने में सफल होते हैं। उनकी 'रेफ की तरह' कविता को पढ़ते हुए मन एक बार सोचने लगा कि इस तरह के विषय पर क्या हिन्दी में कोई दूसरी कविता भी है? वरिष्ठ कवि अष्टभुजा शुक्ल की कविता 'हलन्त' ज़रूर याद आयी, लेकिन उसका काव्यफलक इस कविता से भिन्न है। यह कविता ज़रूरत के सांचे में ढले जीवन में अनुपयोगी वस्तुओं और सम्बन्धों के नेपथ्य में चले जाने के विषय को केन्द्र में रखती हुई हमारी निरंतर क्षरित होती संवेदना को उद्घाटित करती है :–

वे हर्फ़ों की दुनिया में
रेफ की तरह हैं
जो कभी कभार ही आते हैं काम
लेकिन वे होते हैं विकल्पहीन

जिनके बिना शब्द हकलाने लगते हैं।

.....
आखिर कैसा है यह समय
कि अपना ही बेगाना होकर
शामिल नहीं है
हमारी अपनी दुनिया में।

कवि की चिंता, इस तय तौर–तरीकों से चलने वाले समाज में सम्बन्धों के नकलीपन और एक अजीब तरह की बाजीगरी के प्रति भी है। हमारी दुनिया इस तरह बदल गयी है कि उसमें अब एक सहज और निश्छल आदमी के लिए कोई जगह नहीं बची है। वे जो तोल–मोल करना जानते हैं, जिनके लिए सम्बन्ध आवश्यकताओं की पूर्ति का ज़रिया हैं, वे विशेष किस्म के सन्तुलन के साथ अपना जीवन जीते हैं। कवि अपनी कविता 'सुरक्षित कोनों के बरक्स' में लगभग उसी अकेलेपन की बात करता है, जिसका जिक्र मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक में किया था (ऊपर का सन्दर्भ देखें) :–

और ईमानदारी से कहें तो
भरोसा भी उसी पर
वह जो अकेला है
उस बहाव के विरुद्ध भी अकेला है
और संतोष है कि उसने
विरुद्ध चलना सीख लिया है।

'अपनी आँख' इस संग्रह की वह कविता है, जिसने मुझे व्यक्तिगत रूप से सबसे ज्यादा प्रभावित किया है। नये सांस्कृतिक और वैचारिक विमर्शों से पटे इस समय में साहित्य को लेकर एक सवाल सबके मन में मौजूद रहता है। पाठकों की विमुखता और किसी आन्दोलन या क्रान्ति के सन्दर्भ में उदासीनता से ग्रसित इस वातावरण में आखिर क्यों लिखा जाय? यह सवाल कमाबेश हर लिखने वाले के मन में मौजूद रहता है। पुराने कवियों ने 'स्वान्तः सुखाय' कहकर इस सवाल को कुछ तनु करने की कोशिश भी की है (लेकिन फिर वही कि सुख ही पाना है तो लिखना क्यों ... और भी काम हैं जमाने में)। कवि की यह कविता बेहद सहज रूपकों के साथ शुरू होती है, पर अन्त तक आते–आते यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कहती है:–

जब जो जैसा देखता हूँ
बस लिखना चाहता हूँ
.....
मैं नहीं चाहता
उधार का चश्मा पहन
सावन का अंधा बनूँ
मैं अपनी आँख पाना चाहता हूँ
मैं लिखना चाहता हूँ।

अच्छी बात यह है कि संग्रह की इन कविताओं में नाउम्मीदी और विलाप भर नहीं है, बल्कि मुश्किल दौर में भी उम्मीद की ओर इशारा है। 'यूटोपिया' और 'डिस्टोपिया' के बीच एक सम्भव धरातल तलाशने की कोशिश इन कविताओं में है। सब कुछ खिलाफ़ है, इस तथ्य की स्वीकृति में कवि को परहेज नहीं, फिर भी कुछ अनुकूल है इसका यक़ीन कवि को है। 'तुम अकेले नहीं हो', शीर्षक कविता की पंक्तियाँ है :–

वैसे भी ठहरना
मौत के पूर्व का सन्नाटा है
जबकि गति मृत्यु के खिलाफ
आदिम मानवीय कार्यवाही

'किसी का जाना' कविता जीवन में लगातार पैदा होती रिक्ति को लेकर लिखी गयी एक मार्मिक कविता है। यह कविता उन्होंने अपने बाबा की मृत्यु के बाद जीवन में तमाम चीज़ों के अवसान की कथा पर केन्द्रित की है। यह हम सबके जीवन में लगातार हो रहा है। जिस तरह बाबा की मृत्यु की बाद गुड़, गट्टे, शकरकन्द का स्वाद कवि के जीवन से उठ जाता है, उसी तरह अन्य वृत्तान्तो में खोजने पर हम पा सकते हैं कि गांव में रहने वाली दादी या चाची के अवसान के साथ लोकजीवन से कुछ गीत खत्म हो गये (इसका व्यक्तिगत अनुभव भी मुझे है, मेरी दादी खालिस अवधी की कुछ मसलें कहा करती थीं, जिनके बिना प्रायः उनके वाक्य बनते ही नहीं थे, उनके जाने बाद लगातार मुझे यह लगता रहा है कि वे लोकोक्तियाँ मर गयी हैं)। तब अगर कवि यह कहता है कि जाने वाला अब अपने साथ पूरा एक समय लेकर जाता है, तो उचित ही है। पर गजब तो वे तब करते हैं जब जड़ों से इस कटने को वे पुलई से गिरने की चोट से सम्बद्ध करते हैं :–

फिलवक्त इतना ही कहना है कि
किसी का जाना जड़ों से दूर
पुलई से गिरना है
जिसमें चोट बहुत देर तक दुखती है

छूटने और कटने का यह दर्द उनकी अगली कविता 'एक क्षण भी भारी है समूची धरती पर' में और भी गाढ़ा होता है। मृत्यु और प्रकृति ही छुड़ाती और काटती, तो स्वीकार्य था ; आज बाज़ार के आतंक के समय में ऐसे बहुत से कारण पैदा हो गये हैं, जो हर शय को अपनी जड़ से अलग कर देने पर आमादा हैं। कवि की चिंता है कि यह विस्थापन सबकुछ गड्डमड्ड कर देगा। पेड़ों का उदाहरण देते हुए वे बताते हैं कि जो अपनी जगह नहीं छोड़ेगा उसे नष्ट होना पड़ेगा। वे उस नष्टप्राय के सात्विक प्रतिरोध को चिन्हित करने की बात करते हैं :–

पेड़ों को दुख है कि
वे चल नहीं सकते
नहीं है उनके पास कोई उपाय
आरों से अपना सीना
चाक करने के अलावा

सुखद आश्चर्यजनक रूप से अपनी एक अन्य कविता 'जिन्हें बचाना ज़रूरी है' में वे कुछ चीज़ों को बचाने के माध्यम से लगभग पूरी दुनिया को बचाने की कोशिश करते दिखते हैं। उनकी लिस्ट में कुँआ है, खुरपी है, पेड़ है, हँसी है, चेतना है, आग है, राख है, रंग है, राग है, प्यार है, रंज है और भाषा भी है। यही वे चीज़ें हैं जिनसे जीवन की वास्तविक आभा सम्भव है, इस आलोक के लिए सबकुछ बचाना चाहता है कवि। ध्यान देने योग्य है कि वह सुगढ़ और पकी हुई चीज़ें नहीं बल्कि कच्ची और अनगढ़ चीज़ों को बचाना चाहता है :–

कच्चापन तो बेहद ज़रूरी है
जिसे बचाया ही जाना चाहिए
वह चाहे भाषा का हो
या स्वाद का
क्योंकि पकी हुई चीज़ों पर
भरोसा करना मूर्खता ही होगी
एक सीमा के बाद।

शहर में रह रहे कवि को अत्याधुनिक सुविधाओं से लैस शहर 'उजाड़' लगता है। पहले पहल ऐसा लग सकता है पर यदि ध्यान से देखें तो इसका कारण कोई रोमानी नॉस्टैल्जिया नहीं है; शहर के डिब्बीनुमा कमरों में 'अदहन में चुरते पानी की तरह' उबलते हुए कवि को गाँव की वत्सल छाँह की स्मृति हो आना स्वाभाविक ही है। (वे जब 'पेड़ और मैदान और उछाह और खेल भी कहाँ अब?' कहते हैं तो जायसी का 'कित यह खेल' याद आ जाता है; इसके लिए उन्हें सलाम!) लेकिन, उनकी असली चिन्ता यह नहीं है, असली चिन्ता है कि उनके पास तो यह सब याद करने के लिए है भी लेकिन अगली पीढ़ी स्मृतिहीनता का शिकार होने वाली है, जिसके पास गाँव के सुनहरे जीवन का शायद कोई अनुभव नहीं होगा :–

मुझे दुख है कि मेरा बेटा
आम के पेड़ पर तो क्या
अमरूद के पेड़ पर चढ़कर
अमरूद खाये बिना ही
बड़ा हो जायेगा
और बेटी को एक सोहर तक भी
नहीं याद होगा।

'अचानक कुछ नहीं होता' यह मानने के साथ ही कवि यह भी मानता है कि 'अचानक कुछ भी नहीं मिलता', बल्कि मिलना ज़रूरी भी नहीं है। कुछ पाने के लिए आसान और तेज़ रास्तों की कवायद भी प्रायः कुछ नहीं देती। धीरे–धीरे सब आता है। 'धैर्य' और 'आ–धार' शीर्षक कविताओं में कवि इसी सचाई को मानता और गुनता दिखाई देता है। 'सुगम उपाय तो बेदखल होने का रास्ता दिखाता है' और 'जीवन से दूर भरोसों को कट्ठा कट्ठा सिरजेंगे' जैसी पंक्तियों के माध्यम से वे इसी वैचारिकता को दृढ़ता से दर्ज करते हैं।

लोक और अपनी नागरिकता के दोराहे पर खड़ा यह कवि अपनी राजनैतिक समझ में भी बेपरवाह नहीं है। गाँव उसके लिए सिर्फ गुजरे हुए सुनहरे अतीत का हिस्सा भर नहीं है। गाँव का कठिन वर्तमान और किसान के जीवन की चुनौतियों से भी वह न सिर्फ पूरी तरह वाकफियत रखता है बल्कि उसके अनुभवों से वह एक संश्लिष्ट रूपक भी रचता हुआ दिखाई देता है। किस तरह दिल्ली की नींद का सुकून गाँव के किसान का रतजगा है, इसकी बानगी देखें :–

जब किसान की आँखों से
बेदखल हो चुकी है नींद
मुझे पता है
उनींदी दिल्ली को
आज बहुत दिनों बाद
आयेगी अच्छी नींद।

एक और कविता, जिसका जिक्र किये बिना शायद बात पूरी नहीं होगी, वह है 'पिता एक इन्तज़ार का नाम है'। हिन्दी कविता में माँ को लेकर ढेरों कविताएँ लिखी गयी हैं, आज भी लिखी जा रही हैं; किन्तु पिता

को लेकर लिखी गयी कविताओं की संख्या अपेक्षाकृत कम है (हालांकि एक सुखद सूचना है कि दिल्ली के दो कविमित्र पिता पर लिखी कविताओं का संचयन निकाल रहे हैं)। उत्तर भारत की हिन्दी पट्टी में पिता–पुत्र का सम्बन्ध कुछ ऐसी दूरी से भरा रहा है कि उसमें भावनात्मक गर्माहट होते हुए भी उसके बारे में सोच पाना या कविता लिख पाना एक संकोच के कारण बाधित रहता है। आशंका और चिन्ता से भरा हुआ पिता, पुत्र के प्रति अपने भावों की प्रवणता को हमेशा एक आवरण के नीचे छिपाये रखता है और पुत्र भी पिता के प्रति अपने तमाम प्रेम को भयमिश्रित आदर के फ्रेम से बाहर नहीं आने देता। ऐसे में रोजी के लिए विस्थापित एक पुत्र की प्रतीक्षा में पड़े पिता की ओर से लिखी यह कविता बेहद मार्मिक है (जिन्होंने देर रात घर लौटने पर अपने पिता को जागते हुए और दरवाजा खोल देने के बाद चुपचाप जाकर सोते हुए देखा है, वे इस कविता के मर्म को बहुत ठीक से समझ पायेंगे)। पिता के पास केवल और केवल प्रतीक्षा है :–

दरस परस का समय है यह
वह जरूर आयेगा
सोचते हैं पिता
और मैं बेहद परेशान
और डरा हुआ कि
आखिर क्यों
पिता एक इन्तज़ार का नाम है।

यह एक आलोचक–कवि का दूसरा संग्रह है, निश्चित रूप से इससे 'अपेक्षाएँ' भी अधिक ही होंगी। अनिल त्रिपाठी अपने पहले संग्रह 'एक स्त्री का रोजनामचा' की कविताओं से निस्सन्देह प्रौढ़ हुए दिखते हैं। फिर भी, यह प्रौढ़ता ओढ़ी हुई या सायास नहीं दिखती। दरअसल, अनिल त्रिपाठी के कवि का वैशिष्ट्य ही यही है कि न तो वैचारिकता का कोई मुहावरा और न ही शिल्प की कोई प्रायोगिकता ही उनकी कविता में प्रयासगत दिखती है। उनकी सभी कविताएँ उनकी भावनात्मक और संवेदनागत सच्चाई से उपजी हैं, उसमें कुछ भी क्राफ्टेड नहीं है। 'जो जैसा दिखा लिखा' की शैली में ही वे कविताएँ लिखते हैं, शिल्प को लेकर कोई अतिरिक्त सावधानी भी उनकी कविता में नहीं दिखती। उनकी कविताओं में सबसे अधिक ध्यान खींचती है उनकी भाषा और आंचलिक बोलियों के शब्दों का उनका चयन, 'ओछाँह', 'ओरदावन', 'पानीदार', 'बतधर' जैसे तमाम अवधी के शब्द उनकी कविता में पूरी अर्थवत्ता के साथ प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द आरोपित नहीं लगते, बल्कि यह महसूस होता है कि इन कविताओं के बारे में सोचते हुए उन्होंने इन शब्दों के बिना नहीं सोचा होगा। यही कारण है कि वे अपनी कविताओं में लोक का एक सशक्त मुहावरा गढ़ने में समर्थ हो पाते हैं। भाषा और विचार दोनों ही स्तरों पर यह संग्रह कवि के पक्के होते जाने के साथ अपने भीतर के कच्चेपन को बचाए रख पाने के कौशल का प्रतीक है। समकालीन हिन्दी कविता के परिदृश्य में यह संग्रह अपनी पठनीयता और प्रासंगिकता के कारण अपनी जगह बनाने में समर्थ होगा

संदर्भ–ग्रंथ–सूची :

1. अनिल त्रिपाठी. (2012). अचानक कुछ नहीं होता. शिल्पायन प्रकाशन।
2. नामवर सिंह. (2002). इतिहास और आलोचना. राजकमल प्रकाशन।
3. रामविलास शर्मा. (1990). भारतीय साहित्य की भूमिका. राजकमल प्रकाशन।
4. मैनेजर पांडेय. (2006). साहित्य और इतिहास दृष्टि. वाणी प्रकाशन।
5. विश्वनाथ त्रिपाठी. (2010). लोक और साहित्य. राजकमल प्रकाशन।
6. गजानन माधव मुक्तिबोध. (1980). नयी कविता का आत्मसंघर्ष. राजकमल प्रकाशन।
7. अशोक वाजपेयी. (2014). कला का जोखिम. राजकमल प्रकाशन।
8. राजेश जोशी. (2016). कविता का लोकतंत्र. राजकमल प्रकाशन।
9. कंवल भारती. (2010). दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. वाणी प्रकाशन।
10. ओमप्रकाश वाल्मीकि. (2001). दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. राधाकृष्ण प्रकाशन।

11. मृणाल पांडे. (2015). स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक. राजकमल प्रकाशन।
12. अनामिका. (2013). स्त्रीत्व का मानचित्र. वाणी प्रकाशन।
13. ईगलटन, टेरी. (2008). लिटरेरी थ्योरी : एन इंट्रोडक्शन. ब्लैकवेल।
14. जेमसन, फ्रेडरिक. (1981). द पॉलिटिकल अनकॉन्शस. कॉर्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस।
15. अल्थुसर, लुई. (1971). लेनिन एंड फिलॉसफी एंड अदर एसेज. मंथली रिव्यू प्रेस।
16. सईद, एडवर्ड डब्ल्यू. (1978). ओरिएंटलिज्म. पेंगुइन बुक्स।